E: ISSN NO.: 2349-980X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-1) May- 2019
Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में मानव एकात्मवाद की उपादेयता

समीर कुमार जायसवाल
शोधार्थी,
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग,
आई0ओ0पी0,
वृन्दावन, मथुरा,
उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश

पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानववाद की अवधारणा स्थापित की। यह अवधारणा भारत के युगयुगीन सांस्कृतिक चिन्तन पर आधृत है। वस्तुतः एकात्म मानव दर्शन है किन्तु इसे एकात्म मानववाद इसलिए कहा गया है क्योंकि दीनदयाल जी ने एकात्म मानव के सर्वांगीण विकास और अभ्युदय के लक्ष्य भारतीय दर्शन से ही निरूपित किए थे।

यह भारतीय विचाराधारा और दर्शन ही है जो परस्पर सहयोग को प्रधानता देते हैं। जबकि पश्चिमी देशों की सारी विचारधाराएं संघर्ष पर आधृत हैं। वहाँ स्पर्धात्मक विचारधारा व्याप्त है। भारतीय विचारधारा में मनुष्य की बौद्धिक, मानसिक व आध्यात्मिक आवश्यकताओं को प्रधानता प्राप्त है किन्तु पश्चिम में संघर्ष ही प्रधान है। ऐसा नहीं है कि हमारे समाज में संघर्ष की बात नहीं होती मगर यह अपवाद ही है।

मुख्य शब्द : एकात्म, आत्मिकता, संस्कृति, अर्थनीति, समन्वयता।

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का तथा सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है। इस संकलित विचार ने एकात्म मानववाद की अवधारणा को जन्म दिया जिसे समय–समय पर कई महान व्यक्तियों ने व्याख्यायित किया है। इन्हीं में से एक मनके के रूप में है पं0 दीनदयाल उपाध्याय; जिनके अनुसार मानव एकात्मवाद का उद्देश्य एक ऐसा स्वदेशी मॉडल प्रस्तुत करना था जिसमें विकास के केन्द्र में मानव हो।

मानव के सामाजिक विकास पर उनका मत था कि भारतीय परंपरा मानव को 'एकात्म' मानती है। एकात्म, यानी जिसको बाँटा नहीं जा सकता। न बाँटी जा सकने वाली इकाई को 'एकात्म' कहते हैं। समाज और व्यक्ति इस प्रकार जुड़े हुए हैं, उन्हें अलग–अलग नहीं किया जा सकता। मानव; व्यक्ति के रूप में समाज का अभिन्न अंग होता है। व्यक्ति परिवार के बिना नहीं रह सकता। परिवार अपने ग्राम, शहर या मोहल्ले के बिना नहीं रह सकता। ग्राम, शहर से भी आगे देश व दुनिया की इकाइयाँ हैं। व्यक्ति इन सभी सामुदायिकताओं का हिस्सा हैं, इनसे स्वतंत्र नहीं है। एकात्म मानव का सुख व्यक्ति व समाज में बँटा हुआ नहीं वरन् एकात्म होता है।

वास्तविकता यह है कि व्यक्ति नाम की जो वस्तु है, वह एकांगी नहीं बल्कि बहुअंगी है परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि वह अनेक अंगों वाला होकर भी परस्पर सहयोग, समन्वय की पूरकता और एकात्मकता के साथ चल सकता है। यह व्यक्ति को कुछ गुण मिला हुआ है। जो व्यक्ति इस गुण का ठीक से उपयोग कर ले, वो सुखी व जो गुण का ठीक प्रकार से उपयोग न कर सके, वह दुखी, उसका विकास ठीक नहीं होगा।

'मानव' केवल व्यक्ति व समाज के रूप में ही 'एकात्म' नहीं है, वह इस संसार यानी प्रकृति का भी अविभाज्य अंग है। अतः मानव यदि प्रकृति के साथ अनुचित व्यवहार करेगा तो दुःखी हो जाएगा। भारतीय पंरपरा प्रकृति को 'माता' का दर्जा देती है। प्रकृति को प्रदूषित करना पाप है। यह सृष्टि केवल व्यक्ति और समाज से नहीं बनती, मानव को प्रकृति के साथ समुचित व्यवहार करना सीखना चाहिए।

इस प्रकार दीनदयाल जी का चिन्तन यह दर्शाता है कि व्यक्ति और समाज में विरोध मानना भूल है। विकृतियों अथवा अव्यवस्था पर चिंतन करना अपने स्थान पर उचित है, पर मूल सत्य यही है कि व्यक्ति और समाज अभिन्न और अविभाज्य है। सुसंस्कृत अवस्था यही है कि व्यक्ति अपनी चिंता करते हुए भी समाज की चिंता करेगा। दोनों की सामान्य स्थिति है, पूरकता। समाज को हानि पहुँचाकर अपना भला करना, यह मानव स्वभाव की विकृत अवस्था है। व्यक्ति का समर्पण समाज के लिए आवश्यक है। साथ ही व्यक्ति को समर्थ

बनाने और विकास करने में सब प्रकार की स्वतंत्रता देने का काम समाज का है।

आर्थिक विकास पर दीनदयाल जी का विचार था कि मनुष्य जीवन में अधिकतर समय और शक्ति पैसा अर्जित करने में ही खर्च होती है। आखिर मनुष्य द्रव्यार्जन के लिए इतनी दौड़–धूप क्यों करता है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है कि जीवन के लगभग सभी भौतिक सुख, सम्पत्ति की सहायता से ही प्राप्त होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं को पूरा किया जाना आवश्यक है। भौतिक आवश्यकताओं और जीवन के सर्वांगीण विकास में बहुत घनिष्ठ संबंध है। और न केवल मानव के सर्वांगीण विकास के लिए, अपितु उसके जीवन–धारण के लिए भी न्यूनतम अर्थ की आवश्यता होती ही है। इस न्यूनतम अर्थ का भी अभाव हो तो मनुष्य को रोटी और कपड़े की चिंता सताती रहेगी। उसका अधिकतर समय एवं शक्ति इन चीजों को प्राप्त करने में ही खर्च होती रहेगी। जीवन में सुख और संतोष उसके लिए दुर्लभ हो जायेंगे।

अर्थ के अभाव के कारण व्यक्ति के लिए कर्त्तव्यरूप धर्म का पालन करना भी कठिन हो जाता है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्' वाली उक्ति के अनुसार उसके पैर गर्हित मार्ग पर चलने लगते हैं। आधारभूत आवश्यकताओं के लिए भी धनवान लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है और इसलिए उनके दुराचरण की ओर आँखें मूँदनी पड़ती हैं। कभी–कभी तो उनका समर्थन भी करना पड़ता है इस सारी स्थिति से ऊबकर कभी–कभी जीवन दुश्वार हो जाता है।

अर्थ का अभाव समष्टिगत हो तो समाज के सद्गुणों का धीरे–धीरे लोप होता जाता है। समाज के बलदण्ड लोग बलहीनों का शोषण करने लगते हैं। ऐसे समाजों या देशों को अन्य सम्पन्न देशों के सामने विवशता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी में से आगे चलकर आर्थिक एवं उसके पीछे–पीछे राजनीतिक दासता भी आती है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व हम हर प्रश्न की ओर राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखा करते थे। अब हम प्रत्येक प्रश्न की ओर केवल आर्थिक दृष्टिकोण से देखने लगे हैं। कारण, साध्य और साधन का विवेक ही शेष नहीं रहा है। पैसा अर्जित करना जीवन की एक महत्त्वपूर्ण बात न रहकर उस प्रश्न ने हमारा सारा जीवन व्याप लिया है। पैसा प्राप्त करने के परे भी जीवन में अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ होता है, इसका बोध ही हमारे मानस से लगभग समूल नष्ट हो गया है।

मनुष्य का विकास, केवल आर्थिक विकास नहीं, अपितु सर्वांगीण विकास है। आर्थिक विकास के कारण मन की शांति नष्ट होती हो, बुद्धि विकृत होती हो तो ऐसा विकास किसी काम का नहीं। इस संदर्भ में दीनदयाल जी कहते हैं कि अर्थ का प्रभाव एवं अभाव दोनों हानिकारक हैं।

कोई भी दर्शन तभी चिरंजीवी हो सकता है, जब वह मानव का समग्रता से विचार करे। पूँजीवाद एवं साम्यवाद दोनों ने ही केवल 'आर्थिक–मानव' का विचार अपने सामने रखकर नीतियाँ निर्धारित की हैं। शरीर के लिए सुख एवं भोग के आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, अतः विशेष परिस्थितियों की उपज ये दर्शन एक सीमित अर्थ एवं सीमित समय तक ही सार्थक हो सकते हैं।

पूँजीवाद के कारण व्यक्ति के हाथ में सम्पदा का केन्द्रीयकरण हुआ, तो उसमें शोषण भी पनपा। इसके विरोध में साम्यवाद खड़ा हुआ पर इसमें व्यक्ति–स्वातन्त्रय एवं काम करने की इच्छा ही नष्ट हो गयी। इसी कारण आज यह दर्शन अपने मूल कर्म स्थल से भी व्यर्थ सिद्ध होकर निष्कासित है।

वस्तुतः पं0 दीनदयाल उपाध्याय पूँजीवाद और साम्यवाद के मध्य एक ऐसी राह के पक्षधर थे जिसमें दोनों प्रणालियों के गुण मौजूद हों लेकिन अतिरेक एवं अलगाव जैसे गुण न हों।

मानव के आत्मिक विकास को स्पष्ट करने के लिए दीनदयाल जी ने पुरातन भारतीय परम्परा का सहारा लिया। वे कहते हैं कि भारतीय चिन्तकों ने चार पुरूषार्थों की चर्चा की हैं – धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। परन्तु ये चारों पुरूषार्थ अलग–अलग नहीं है, परस्पर गुम्फित हैं। अर्थ और काम की साधना तो मनुष्य करेगा ही लेकिन इन दोनों क्षेत्रों में काम करने के लिए धर्म की रेखा निश्चित है। एक बात और ध्यान रखनी होगी कि सभी प्रकार के पुरूषार्थों की साधना करते हुए मानव जीवन का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए। भारतीय चिन्तकों ने इसी लक्ष्य को मोक्ष कहा है। इसी क्रम में वह बताते हैं कि विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्त्तव्य–प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्त्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल एकात्मकता प्रकट की है।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि भारत एक आध्यात्मिक तत्त्व को मानवता का अटूट हिस्सा मानता है। यह अनुभूति का क्षेत्र है। भारत उस परमात्मा के किसी एक रूप या पूजा–पद्धति का अनुयायी नहीं हैं, बल्कि आध्यात्मिक उत्कर्ष के विविध आयामों का यहाँ विकास हुआ है। इसी कारण सभी प्राणियों में एक ही आत्मा का निवास, जीव दया का भाव तथा अहिंसा आदि गुणों का यहाँ विकास हुआ। दीनदयाल उपाध्याय आध्यात्मिकता को भी मानव की एकात्मता का हिस्सा मानते हैं तथा उसकी अनदेखी करने को खतरनाक मानते हैं।

धर्म समझदारी में निहित होता है, संघर्ष में नहीं। धर्म हमें सिखाता है कि एक व्यक्ति का दूसरे से नाता समान स्वार्थ में नहीं होता, बल्कि आत्मिक अनुभूति के एकीकरण के कारण होता है। यही कारण है कि व्यक्ति अपने को केन्द्र मानकर समाज के बारे में सोचता है और संसार को सुखमय और शान्तिमय बनाने की आशा करता है।

व्यक्ति की स्वतंत्रता और सामाजिक हितों में परस्पर तालमेल होना अति आवश्यक है। व्यक्ति स्वतंत्र हो यह तो ठीक है, परंतु उसकी स्वतंत्रता सिर्फ अपने लिए हो, यह गलत है। उसका उपयोग समाज के लिए होना चाहिए। समाज सेवा ही धर्म की पहली शर्त है और इसका उल्लंघन ही अधर्म है।

सांस्कृतिक विकास के सम्बन्ध में दीनदयाल जी का मानना है कि सांस्कृतिक मौलिकता सांस्कृतिक स्वतंत्रता में निहित होती है और सांस्कृतिक मौलिकता ही किसी भी राष्ट्र, किसी भी समुदाय की वास्तविक पहचान होती है। ओढ़ी हुई संस्कृति ठीक उसी प्रकार होती है जैसे सिर पर से ओढ़ा हुआ कम्बल जो प्रत्येक पग के साथ सिर पर से सरकता जाता है और उसे बार–बार सम्भालने का यत्न करना पड़ता है जबकि मौलिक संस्कृति उस ऊर्जा के समान होती है जो शरीर के भीतर उपस्थित रह कर गर्मी प्रदान करती है तथा शारीरिक दृढ़ता को प्रकट करती है। समाज और संस्कृति शरीर और ऊर्जा की भांति हैं, एक दूसरे के पूरक। इसीलिए समाज के उत्थान के लिए संस्कृति की मौलिकता अति आवश्यक है।

सांस्कृतिक स्वतंत्रता के महत्त्व को रेखांकित करते हुए दीनदयाल जी कहते हैं कि भारत की भूमि में रहने वाला और उसके प्रति ममत्त्व की भावना रखने वाला मानव समूह एक जन है। उनकी जीवन–प्रणाली, कला, साहित्य, दर्शन, सब भारतीय संस्कृति है। भिन्न–भिन्न जाति तथा पंथों का एकरस स्वरूप ही भारतीय राष्ट्र है। भारत की अखण्डता की भांति उसकी संस्कृति भी सम्मिश्र न होकर एकात्म है। इसीलिए भारतीय राष्ट्रवाद का आधार यह संस्कृति है और यही संस्कृति राष्ट्र की सीमाओं को लांघकर मानव जाति के साथ उस राष्ट्र की एकात्मकता का नाता जोड़ती है। अस्तु सांस्कृतिक स्वतंत्रता परमावश्यक है।

भारतीय संस्कृति की एकात्मवादिता के कारण भारत जीवन–दृष्टिकोण भी एकात्मवादी है। व्यक्ति केन्द्रित एकांगी विकास का अथवा मानव को एक आर्थिक एवं राजनीतिक पशु मानने का पाश्चात्य विचार भारतीय संस्कृति का नहीं है। मनुष्य के शरीर–बुद्धि–आत्मा सबका विकास हो, तभी मानव का सम्पूर्ण विकास हो सकता है। यह पूर्णतावाद भारतीय जीवनदृष्टि का मुख्य विचार है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि एकात्म मानवदर्शन प्रत्येक राष्ट्र को अपनी–अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुसार विकास करने की स्वतंत्रता देगा। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने गुण–कर्म के अनुसार विकास कर, विकास का सम्पूर्ण फल समाज–पुरूष को अर्पित करता है, उसी तरह प्रत्येक राष्ट्र अपने को मानवता का एक अंग समझेगा। हम सभी मानवता के साथ अपने को एकात्म समझ लें और सम्पूर्ण मानवता की प्रगति के लिए अपने राष्ट्र की जो विशेषताएँ होंगी, प्रगति की जो विशेषताएँ होंगी, उसका परिपक्व फल मानवता के चरणों पर अर्पित करेंगे। इस तरह हर एक राष्ट्र स्वायत्त रहते हुए अपना विकास भी करेगा; किन्तु विश्वात्मा का भाव मन में रहने के कारण एक दूसरे का पोषक, सम्पूर्ण मानवता का पोषक विश्वराज्य, पं0 दीनदयाल के एकात्म मानवदर्शन की रचना की दृष्टि से चरम परिणति होगी।

जहाँ तक एकात्म मानववाद की वर्तमान प्रासंगिकता की बात है तो इसे निम्न प्रमुख बिन्दुओं के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है –

1. आज विश्व की एक बड़ी आबादी गरीबी में जीवन यापन कर रही है। विश्वभर में विकास के कई मॉडल लाए गए लेकिन आशानुरूप परिणाम नहीं मिला। अतः दुनिया को एक ऐसे विकास मॉडल की तलाश है जो एकीकृत और संधारणीय हो। एकात्मक मानववाद ऐसा ही दर्शन है जो अपनी प्रकृति में एकीकृत एवं संधारणीय (Integral & Sustainable) है।
2. एकात्म मानववाद का उद्देश्य व्यक्ति एवं समाज की आवश्यकता को संतुलित करते हुए प्रत्येक मानव को गरिमापूर्ण जीवन सुनिश्चित करना है। यह प्राकृतिक संसाधनों के संधारणीय उपयोग का समर्थन करता है जिससे कि उन संसाधनों की पुनः पूर्ति की जा सके।
3. एकात्म मानववाद न केवल सामाजिक–आर्थिक स्वतंत्रता को बढ़ाता है अपितु राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्वतंत्रता को भी बढ़ाता है। इस प्रकार यह सिद्धान्त विविधता को प्रोत्साहन देता है। अतः भारत जैसे विविधतापूर्ण देश के लिए यह सर्वाधिक उपयुक्त है।

आज विश्व किंकर्त्तव्यविमूढ़ है, उसे मार्ग नहीं दिख रहा कि वह कहाँ जाये। पश्चिम आज स्वयं मार्ग टटोल रहे हैं। इस परिस्थिति में यही वह वाद है जो आज के समस्त झंझावातों से हमें सुरक्षा प्रदान करने के साथ–साथ जनता में नवीन उत्साह का संचार करेगा क्योंकि इस वाद की मूल धारणा अस्तित्त्व के लिए संघर्ष नहीं बल्कि अस्तित्त्व के लिए सहयोग है।

अध्ययन का उद्देश्य

वर्तमान समय में मानव विकास की व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों से हो रही है। इनमें बहुत कुछ विचाराधाराएं अपने मतों में एकांगीपन लिए हुए हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में इन विचाराधाराओं को स्पष्ट करते हुए सभी पक्षों की समग्र रूप से व्याख्या करने की चेष्टा की गई है। इसमें जहाँ एक ओर मानव विकास की सभी प्रक्रियाओं को समझाने का प्रयास किया गया है तो वहीं दूसरी ओर भारतीय संस्कृति की परम्परा, सांकेतिक अर्थों का निवर्चन तथा उसके सहारे भारतीय आत्म पर्येषणा के विवेचन को महत्त्व दिया गया है।

निष्कर्ष

अन्ततः पं0 दीनदयाल उपाध्याय के विचारों के प्रति आग्रह रखते हुए आयातित विचाराधाराओं तंत्र से निकलकर अन्त्योदय के लक्ष्य और मानव एकात्मवाद के वैचारिक सिद्धान्त को आत्मसात करके ही भारतीयता के मूल स्वरूप में मानव कल्याण के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

उपाध्याय, दीनदयाल, एकात्म मानववाद, प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2016

उपाध्याय, दीनदयाल, भारतीय अर्थनीति, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, 2014

नेने, विनायक वासुदेव, पं0 दीनदयाल उपाध्याय : विचार दर्शन, खण्ड 2 सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015

कुलकर्णी, शरद अनन्त, पं0 दीनदयाल उपाध्याय : विचार दर्शन, खण्ड 4 सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली, 2014

ठेंगड़ी दत्तोपन्त, एकात्म मानववाद : एक अध्ययन, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, 2008

धवन, मदन मोहन, पं0 दीनदयाल उपाध्याय : विचार दर्शन, एकात्म मानव, कानपुर

सिंह, शरद, दीनदयाल उपाध्याय, सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली, 2016

दीक्षित, डॉ0 इला त्रिपाठी, दीक्षित, डॉ0 प्रयाग नारायण त्रिपाठी, भारतीय राजनीति को पं0 दीनदयाल उपाध्याय का योगदान, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, 2017

शर्मा, डॉ0 महेश चन्द्र, पं0 दीनदयाल उपाध्याय : कर्तृत्त्व एवं विचार, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2017

चौहान, राजेश, पं0 दीनदयाल उपाध्याय, राजा पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, 2018

http://www.drishtiias.com, *एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता*

http://www.pravakta.com, *दीनदयाल उपाध्याय चिन्तन की प्रासंगिकता*

http://www.shrinaradmedia.com, *एकात्म मानववाद की प्रासंगिकता*